तेरापन्थ

लेखक
मुनिश्री बुद्धमलजी

संवत
२०१३

प्रथम संस्करण
३०००

मूल्य
|=)

विषयानुक्रम



तेरापंथ

१ उद्भव के बीज

किसी भी संस्था के मूल उद्देश्यों में काल प्रवाह के उद्दाम थपेड़ों से या नियामकों की असावधानी तथा असमर्थता से जब जब शैथिल्य आने लगता है तब-तब प्रकृति के अकाट्य-नियम के अनुसार ही प्रतिक्रिया स्वरूप उसी संस्था के कुछ व्यक्तियों के हृदय में नव जागरण का बीज वपन होता है। अनुकूल भूमि में पड़ा वह बीज कुछ काल तक अपने अस्तित्व को बाह्य जगत् की विष दृष्टि से बचाये रखता है और अन्दर ही अन्दर अपनी खाद्य सामग्री पाता रहता है। आतप, वृष्टि और वायु आदि की अनवरत प्रेरणा से एक दिन वह अपना सिर ऊपर उठाता है और नील आकाश के नीचे दो कोमल पत्तों के रूप में जगत उसके अस्तित्व को देखता है। मनुष्य अपने चिरन्तन स्वभाव के अनुसार उसके तुच्छ अस्तित्व पर हँसता है और मुँह बनाकर उसकी ओर अपनी उदासीनता व्यक्त करता है, किन्तु जनता के औदासीन्य तथा अन्य अनेक बाधाओं का सामना करता हुआ अंकुर अपनी गति से बढ़ता है और एक दिन जब वह पूरा वृक्ष बन जाता है तब कहीं संसार उसके अस्तित्व तथा दृढ़ता पर विश्वास करता है और उसकी छाया में आकर अपनी क्लान्ति दूर करता है।

जैन संस्था भी इस नियम का अपवाद नहीं बन सकी। कालक्रम से चली आई मानवीय दुर्बलताओं ने जैन साधुओं के जीवन पर भी अपना

जाने का ताना बाना बुना। अपनी नियमानुवर्तिता के लिए प्रसिद्ध तथा अपरिग्रहत्व का उपासक साधु संघ धीरे धीरे सुखलिप्सु और अकर्मण्य बनने लगा।

अवगुण अकेला कभी नहीं आता, पूरक अवगुणों का समुदाय उसके साथ आता है। त्यागी श्रमण संघ की सुख लिप्सा के एक अवगुण ने अवगुण परम्परा का घर बना दिया। आचार को गौण स्थान देकर वह अपनी सुविधाओं को प्रमुख स्थान देने लगा, अपरिग्रही होकर भी मकानों आदि पर प्रकारान्तर से अपना आधिपत्य रखने लगा और शिष्य लोलुपता, पारस्परिक कलह और यश कामना आदि के चक्कर में भी श्रमण वर्ग ऐसा फंसा कि अपने लक्ष्य को भूलकर बहुत दूर भटक गया।

प्रतिक्रिया स्वरूप नव जागरण का बीजारोपण भी होता गया। शिथिलता की मात्रा के अनुसार ही अनुयायियों में अश्रद्धा और विरोध की भावनाएं तीव्र होने लगीं। श्रमण हितैषी जन वर्ग इस अवस्था से काफी चिन्तित था। वह चाहता था कि संघ में आचार कुशलता की पुनः प्रतिष्ठा हो, किन्तु सत्ता प्रिय साधु वर्ग को इस बात की कोई चिन्ता नहीं थी, वह तो अपनी ही चाल से चलने को कृत संकल्प था।

चरित्र विशुद्धि का लाभ बतलाकर जैन शासन की भावी उन्नति का सुरम्य खाका खींचकर या अनुयायी वर्ग के असन्तोष का भय दिखलाकर तत्कालीन श्रमण वर्ग को स्वच्छन्दता की मादकता में डूबने से बचा लेना प्राय असम्भव हो चुका था। सत्परामर्श देनेवाले व्यक्तियों ने जब देखा कि शिथिलता के सूचा—पट्ट पर आये दिन प्रमाद घटने के बजाय बढ़ते ही जा रहे हैं और उनके परामर्श की तूती को पुनः प्रतिष्ठा के नगाड़े के सामने कोई भी सुनने को तैयार नहीं है तब एक दिन छिपा हुआ अंकुर अपने सिर पर की मिट्टी को दूर फेंककर बाहर की शुद्ध वायु के लिये उठ खड़ा हुआ।

राजनगर (उदयपुर) के श्रावक-संघ ने इस कार्य में पहल करके साहसिकता का परिचय दिया। उसने घोषित कर दिया कि श्रमण संघ अपने में घुस आई हुई कमजोरियों को दूर करने के लिये जब तक कटिबद्ध

नहीं होता तब तक हम उसे न तो मान्य करेंगे और न वन्दन आदि से सत्कृत ही करेंगे।

राजनगर का श्रावक-वर्ग स्थानकवासी सम्प्रदाय के तत्कालीन अनेक आचार्यों में से एक श्री रुघनाथजी की आम्नाय का था, अतः जब उन्होंने यह बहिष्कार का समाचार सुना तो बड़े चिन्तित हुये। वे उस समय मारवाड़ में थे और वहीं चातुर्मास का निर्णय कर चुके थे। इधर राजनगर में भी किसी विद्वान् साधु को भेजने की आवश्यकता थी, जो वहां की सारी परिस्थिति को सम्भाल कर श्रावकों के सन्देह को दूर कर सके। आखिर अपने प्रिय शिष्य "भीखणजी" को वहां भेजने का उन्होंने निर्णय किया, क्योंकि वे शास्त्रज्ञ होने के साथ साथ असाधारण बुद्धिमान भी थे।

स्वामीजी राजनगर आये और श्रावकों से बातचीत की तो उनके मन से यह बात छिपी नहीं रही कि श्रावक जो दोषारोपण कर रहे हैं, वह वास्तव में सत्य है, किन्तु मत पक्ष ने उनके मन को दोष स्वीकृत की आज्ञा नहीं दी। संयोगवश उसी रात्रि में उन्हें बड़े जोर का ज्वर हो गया। ज्वर ने शरीर के साथ-साथ उनके मन को भी झकझोर डाला। पाप भीरु स्वामीजी ने मन ही मन दृढ़ निश्चय किया कि ज्वर उतरने पर मैं फिर से सत्यासत्य की परख करूँगा और जो सत्य होगा उसी का अनुसरण करूँगा।

रात्रि के साथ ही ज्वर का अन्त हो गया। प्रभात के समय दर्शनार्थ आये व्यक्तियों से स्वामीजी ने अपने निश्चय का जिक्र किया और कहा कि मैंने जो बात आप से कही थी उनके विषय में एक बार फिर से विचार कर लेना चाहता हूँ। शास्त्रों की कसौटी पर अपने विचारों को कस लेने के बाद जो भी निष्कर्ष निकलेगा, वह मैं आपके सामने रखूंगा।

श्रावक वर्ग स्वामीजी की विराग वृत्ति से पहले से ही प्रभावित था, अब सत्यान्वेषण के प्रति आपकी उदार भावना से और भी प्रभावित हुआ। उसे स्वामीजी से जो आशा थी, वह सब फलवती होती हुई नजर आने लगी।

[बीज

तब स्वामीजी ने विरोधी बनकर शिथिलता से लोहा लेने का निर्णय किया।

सम्वत् १८१६ में अपने अन्य बारह सहयोगियों को साथ लेकर बगडी शहर में—जिसे आपके इस महाभिनिष्क्रमण के बाद "सुधरी" भी कहा जाने लगा है, स्वामीजी ने क्रान्ति का बिगुल बजा दिया। फिर क्या था? विरोध, बहिष्कार और चर्चाओं का बवण्डर उठ खड़ा हुआ, किन्तु अपने विचारों के पक्के स्वामीजी इन सबसे विचलित होने वाले नहीं थे। किसी भी तूफान का डटकर सामना करने की बात सोचकर ही उन्होंने अपने मार्ग पर पैर बढ़ाये थे।

सबसे पहले ठहरने की समस्या का ही उन्हें सामना करना पड़ा। सारे शहर में कोई जगह नहीं मिली, किन्तु अभाव में से भाव निचोड़ लेने वाले को अभाव कहाँ? श्मशान की छतरियों में आपने पहला निवास किया। जगत् जिसे अपनी मंजिल का अन्तिम स्थान समझता है, स्वामीजी ने उसी को अपनी मंजिल का प्रथम स्थान बनाया। यह था भी ठीक, सामान्य और महान् का अन्तर यहीं तो स्पष्ट होता है।

नाना विरोध और बाधाएं सच्ची लगन वाले को विचलित नहीं कर सकतीं। वे तो प्रत्युत उसके आत्म बल की वृद्धि ही किया करती हैं। स्वामीजी ने भी बाधाओं से संघर्ष करने का ही मार्ग चुना था। यों तो आपका सारा जीवन ही संघर्षमय था किन्तु प्रथम पांच वर्ष तो इतने संघर्षमय थे कि साधारण मनुष्य निराश हुये बिना नहीं रह सकता। किन्तु बाद में होने वाली आशातीत सफलता का बीज भी इन्हीं पांच वर्षों के कष्टमय जीवन में छिपा हुआ था। इन पांच वर्षों के कष्टमय जीवन तथा उनके बाद आशातीत सफलता का चित्र स्वयं स्वामीजी ने हेमराज जी स्वामी को अपने संस्मरण सुनाते समय या किया था—"म्हे उणा ने छोडी निसर्‌या जद पांच वर्ष तो पूरो आहार न मिल्यो आहार पाणी आयकर उजाडमांय [illegible]व साध परा जाता, रूखरी छाया आहार पाणी मेल्ता अने आतापना [illegible]ता, आथण रा पाछा गाम मे आवता, इण रीते कष्ट भोगवता, कर्म काटता

२ नामकरण

नाम भिन्नता का द्योतक होता है, एक वस्तु को दूसरी से भिन्न पहचानने के लिये उसके विशिष्ट गुणों के अनुरूप या केवल भिन्नत्व की पहचान के लिये मनुष्य सदा से शब्द का उसके साथ सम्बन्ध जोड़ता आया है और इन्हीं शब्द सकेतों द्वारा वस्तु का पृथक् पृथक् ज्ञान करता आया है। यदि शब्द न हो तो मनुष्य न तो स्वय वस्तु—विषयक विशिष्ट ज्ञान कर सकता है और न किसी दूसरे को वस्तु के सम्बन्ध में कुछ जानकारी दे सकता है। यही कारण है कि किसी वस्तु के गुण शोध से भी पहले हम उसका नाम पूछते हैं। यदि कोई नाम न मिले तो हम अपनी ओर से उसकी पहचान के लिये कुछ न कुछ नाम—दे ही देते हैं। तेरापथ के विषय में ऐसी ही बात हुई।

स्वामीजी ने जब आत्म-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर शिथिलता का बहिष्कार किया था तब उनके सामने नया सघ स्थापित करने का नहीं, किन्तु सत्य को स्थापित करने का ही एकमात्र ध्येय था। अपने ध्येय के लिये सहस्रों कष्टों का सामना करते हुए भी वे प्राणपण से जुट गये थे। सस्था के नामकरण के विषय में उन्होंने कभी कोई ध्यान नहीं दिया, उसका कारण सम्भवत यही था, किन्तु फिर भी सस्था का नाम 'तेरापथ" स्थापित हो गया इसका कारण निम्नोक्त घटना थी —

म्हे या न जाणता-सा म्हारो मारग जमसी, ने यूं दीक्षा सो, हुवे यूं प्रायश्चित्त हुसी, म्हे तो जाण्यो आतम कारज सारस्या, मर पूरा देस्या, इम जाण तपस्या करता "।

स्वामीजी ने अपना प्रथम चातुर्मास "केलवा" (उदयपुर) में किया। यहीं से संघर्षों पर विजय पाने का क्रम प्रारम्भ हुआ। संघर्षों पर पाई गई इन क्रमिक विजयों के कारण ही स्वामीजी एक अद्वितीय आत्मयज्ञी आत्म विजेता के रूपमें संसार में प्रसिद्ध हुए। आपके तप पूत जीवन के गम्भीर अनुभवों के आधार पर स्थापित यह तेरापंथ संघ भी आत्म विजय और संगठन का एक अद्वितीय प्रतीक तभी बन सका, जब कि ऐसे महान् मननशील और सत्यान्वेषक साधु पुरुष के सारे जीवन का अनुभव रस इसकी जड़ में सींचा जाता रहा।

आज का महान् तेरापंथ उस समय के उस छोटे से पौधे का ही विराट् रूप है, जिसकी भूमिका राजनगर में बनी, बीज वपन बगड़ी में हुआ और सम्वत् १८१७ आषाढ़ सुदी पूर्णिमा के दिन संसार के सम्मुख एक नव आशा का उल्लास लिये केलवा में पौधे के रूपमें पल्लवित हुआ था।



२ नामकरण

नाम भिन्नताका द्योतक होता है, एक वस्तुको दूसरी से भिन्न पहचानने के लिये उसके विशिष्ट गुणो के अनुरूप या केवल भिन्नता की पहचान के लिये मनुष्य सदा से शब्द का उसके साथ सम्बन्ध जोडता आया है और उन्ही शब्द संकेतो द्वारा वस्तु का पृथक् पृथक् ज्ञान करता आया है। यदि शब्द न हो तो मनुष्य न तो स्वय वस्तु—विषयक विशिष्ट ज्ञान कर सकता है और न किसी दूसरे को वस्तु के सम्बन्ध म कुछ जानकारी दे सकता है। यही कारण है कि किसी वस्तु के गुण-दोष से भी पहले हम उसका नाम पूछते है। यदि कोई नाम न मिले तो हम अपनी ओर से उसकी पहचान के लिये कुछ न कुछ नाम—दे ही देते है। तेरापथ के विषय मे ऐसी ही बात हुई।

स्वामीजी ने जब आत्म-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर शिथिलता का बहिष्कार किया था तब उनके सामने नया सघ स्थापित करने का नहीं, किन्तु सत्य को स्थापित करने का ही एकमात्र ध्येय था। अपने ध्येय के लिये सहसा कष्टों का सामना करते हुए भी वे प्राणपण से जुट गये थे। सस्था के नामकरण के विषय मे उन्होने कभी कोई ध्यान नहीं दिया, उसका कारण सम्भवत यही था, किन्तु फिर भी सस्था का नाम 'तेरापथ" स्थापित हो गया इसका कारण निम्नोक्त घटना थी —

एक बार जोधपुर के बाजार में कुछ श्रावक दुकान में सामायक कर रहे थे। उधर से दीवान फतहसिंह जी सिंघी बाजार में से गुजरे तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि श्रावक गण स्थानक में सामायक न करके यहां कर रहे हैं। आखिर अपने आश्चर्य को न रोक सकने के कारण वे दूकान पर आये और इसका कारण पूछा। श्रावकों में से किसी एक ने स्वामी जी की क्रांति के विषय में सारी बात बताते हुए कहा—"स्वामीजी कहते हैं कि साधुओं के कोई स्थान नहीं होना चाहिये। मठाधीश और परिग्रहीपन साधुता से क्या मेल खा सकता है? संयमी यदि अपना एक घर छोड़कर गांव गांव में घर बनवाने लगेगा तो गृहस्थ से वह क्या कम होगा?" हम भी स्वामीजी की इस विचारधारा से पूर्ण सहमत हैं और यही कारण है कि हमने सामायक यहां की है।' इसी प्रकार और भी श्रद्धा आचार सम्बन्धी अनेक बातें श्रावकों ने दीवान जी को बतलाई। सारी बात ध्यानपूर्वक सुनने के बाद उन्होंने पूछा—"इस समय कितने साधु इस विचारधारा का समर्थन कर रहे हैं?"

श्रावकों ने कहा—'तेरह"।

दीवानजी के साथ सेवक जाति का एक कवि भी था जो उपर्युक्त सारी बात ध्यानपूर्वक सुन रहा था। संयोगवशात् उस समय वहां सामायक करने वाले श्रावक भी तेरह ही थे। साधुओं और श्रावकों की संख्या का यह आकस्मिक समान योग उस कवि हृदय व्यक्ति को प्रेरणादायक बना और उसने उसी समय एक कविता पढ़ी जिसमें इसी "तेरह" की संख्या के आधार पर राजस्थानी भाषा के अनुसार इस संघ के अनुयायियों को "तेरापन्थी" कहा गया था।

स्वामीजी उस समय मारवाड़ के अन्य क्षेत्रों में विहार कर रहे थे। जब उन्हें इस नामकरण की घटना का पता लगा तो उनकी मूल ग्राहिणी प्रतिभा ने तत्काल उस शब्द को ग्रहण कर लिया। उन्होंने सिंहासन से नीचे उतर कर पूर्व दिशाकी ओर मुंह करके भगवान् को नमस्कार किया और

अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि से उसका अर्थ करते हुए कहा—"हे प्रभो यह तेरापथ है। हमने तेरा (तुम्हारा) पथ स्वीकार किया है अतः तेरापंथी हैं।"

कवि की मूल प्रेरणा के उद्घाटन सख्यावाची अर्थ को भी उन्होंने महत्व दिया और कहा कि जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति इन तेरह नियमों को अखण्डरूपेण पालता है वही तेरापंथी साधु है।

इस प्रकार तेरापथ का नामकरण एक कवि हृदय व्यक्ति के उद्गारों के आधार पर हुआ। स्वामीजी द्वारा स्थापित अर्थ की शक्ति को पाकर आज यह आचार कुशल व्यक्तियों को मुक्तावस्था की ओर अग्रसर होने मे सचमुच ही राजपथ का कार्य सम्पन्न कर रहा है।



२ आचार और विचार

आचार्य भिक्षुगणी ने जो क्रान्ति की थी, उसका उद्देश्य संघ में घुसी हुई बुराइयों को दूर हटाकर उसे स्वस्थ बना देना था। सुधार की इस विशुद्ध भावना का आदर नहीं किया गया, अतः स्वामीजी को नया संघ स्थापित करने की आवश्यकता हुई। कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ पूर्ण आग्रह पर सत्य का बलिदान कर देना घोर आत्म वंचना के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? स्वामीजी कभी आत्म वंचना करना कभी नहीं चाहते थे, अतः सत्य के मार्ग पर अपना सब कुछ न्योछावर कर देने में उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं था। सत्य के प्रशंसक प्रायः सभी हो सकते हैं पर सत्य के लिये पद, प्रतिष्ठा, सुख और चिरपालित परम्पराओं को ठोकर मारकर शत शत आपदाओं को अपने सिर पर लेनेवाले विरले ही होते हैं। उन्हीं विरले मनुष्यों में से स्वामीजी एक थे।

उन्होंने सत्य को खोजा और निर्भीकतापूर्वक सबके सामने रखा। उनके कठोर प्रहारों से असत्य की दीवारें हरहराकर ढह पड़ीं। जैन समाज में आचार विचार सम्बन्धी जिन कमजोरियों ने घर कर लिया था, स्वामीजी ने उन सबका बड़ी कुशलतापूर्वक खण्डन किया और अपने नव-निर्मित संघ को इन सब दोषों से रहित सत्य दृष्टि दी।

आचार

स्वामीजी द्वारा सिद्धान्तानुसार पुनः शोधित और निर्णीत साधु-आचार पर तेरापंथी साधुओं का आचार संक्षेप में इस प्रकार बतलाया जा सकता है —

१—तेरापंथी साधु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों को यथावस्थित रूप से पालते हैं।

२—ईर्या, भाषा, एषणा, आदान निक्षेप और परिष्ठापन—ये पांच समितियां तथा मनोगुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति—ये तीन गुप्तियां (सम्मिलित रूप से इन आठों को जैन सिद्धान्त में "प्रवचन माता" कहा जाता है) महाव्रत पालने में सहायक होती हैं अतः वे इनका अनिवार्यतया पालन करते हैं।

३—जैन दर्शनानुसार मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति भी सचित्त अर्थात् सजीव हैं अतः वे इनकी हिंसा न करते हैं, न करवाते हैं, और न ऐसी हिंसा की अनुमोदना ही करते हैं।

४—वे अपनी रक्षा आदि के लिये अपवाद रूप में भी असत्य का प्रयोग नहीं करते।

५—वे ऐसा सत्य भी नहीं बोलते जो हिंसाजनक हो।

६—वे न्यायालय आदि में किसी के पक्ष या विपक्ष में साक्षी नहीं देते।

७—उनकी सारी वस्तुएँ याचित होती हैं। अयाचित तृण मात्र को भी वे चोरी मानते हैं।

८—ब्रह्मचर्य साधना के लिये वे स्त्री मात्र का स्पर्श नहीं करते और न अकेली स्त्री से भिक्षा लेते हैं तथा न बात करते हैं। (साध्वी जन के लिये इसी प्रकार अकेले पुरुष का संसर्ग वर्ज्य है)।

९—वे सोना, चांदी या रुपया, पैसा और नोट आदि किसी भी मुद्रा का उपयोग नहीं करते।

१०—वे मठ, मंदिर, उपाश्रय या स्थानक आदि कोई भी अपना स्थान नहीं रखते।

११—वे अपने पहनने, ओढ़ने और बिछाने आदि के लिये ३० गज से अधिक कपड़ा एक साथ नहीं रख सकते। रूई के गद्दे, रजाई आदि का प्रयोग भी उनके लिये सर्वथा वर्ज्य है।

१२—वे पलंग—चारपाई आदि पर शयन नहीं करते।

१३—वे अपने भोजन, पानी आदि के लिये प्रति व्यक्ति काष्ठ या मिट्टी आदि के तीन पात्र से अधिक नहीं रखते।

१४—चाहे कैसी भी विषम परिस्थिति क्यों न हो, फिर भी वे रात में न भोजन करते हैं, न पानी पीते हैं और न औषध आदि ही लेते हैं।

१५—वे दूसरे दिन के लिये आहार पानी का संग्रह नहीं करते।

१६—वे रुग्ण होने पर भी उनके निमित्त बनाये गये या खरीदे गये आहार पानी या औषध आदि का ग्रहण नहीं करते।

१७—वे उनके निमित्त खरीदे गये या बनाये गये वस्त्र, पात्र, पुस्तक या मकान का भी उपयोग नहीं करते।

१८—वेतन देकर या दिलवाकर किसी अध्यापक आदि के पास नहीं पढ़ते।

१९—वे रुग्णावस्था में भी अस्पताल (Hospital) आदि में भर्ती नहीं होते और न डाक्टर आदि से आपरेशन (Operation) करवाते हैं। आवश्यकता होने पर साधु स्वयं ही एक दूसरे का आपरेशन कर लेते हैं।

२०—वे शौच आदि के लिये बाहर जंगल में या खुले स्थानों में जाते हैं।

२१—वे अनावश्यक कागज आदि वस्तु को गलियों में न डालकर जंगल में ही विसर्जित करते हैं।

२२—वे रोग आदि अपवाद के बिना दिन में कभी नहीं सोते।

२३—वे गृहस्थ से अपनी कोई परिचर्या नहीं करवाते।

२४—वे डाक व गृहस्थ के द्वारा पत्र व्यवहार आदि नहीं करते।

२५—वे रेल, मोटर आदि किसी सवारी पर नहीं बैठते। केवल पद-यात्रा द्वारा ही प्रतिवर्ष सैकड़ों हजारों मीलों का विहार करते हैं।

२६—वे पैरों में जूता, पादुका आदि कुछ नहीं पहनते।

२७—वे अपने वस्त्र, पात्र और धर्म-ग्रन्थ आदि का बोझ अपने कन्धों पर रखकर विहार करते हैं।

२८—वे अपनी वस्तुओं को कहीं आलमारी आदि में या किसी गृहस्थ के पास रखकर नहीं जाते।

२९—वे उस्तरे आदि से हजामत नहीं बनवाते, हाथों से केश लुंचन करते हैं।

विचार श्रद्धा

स्वामीजी ने साधुओं की आचार शिथिलता के साथ साथ विचार शिथिलता को भी दूर हटाया। तत्कालीन तथा पूर्वकालीन कुछ व्यक्तियों की लौकिक दृष्टियों के आग्रह ने जैन श्रमणों को इस प्रकार प्रभावित किया कि वे उसी बहाव में बहकर अपने निवृत्ति प्रधान धर्म की सर्वाङ्गीण दृष्टि को भुला बैठे। वे अध्यात्म और लोक व्यवहार की सीमा—रेखा की विस्मृति से ऐसे मुग्ध हुए कि दोनों का कहाँ पार्थक्य है, यह खोज निकालना उनके लिये दुष्कर हो गया, किन्तु सूक्ष्मदर्शी स्वामीजी ने इस प्रवाह से दूर रहकर मूल सिद्धान्तों के आधार पर पुनः खोज निकाला कि लोक धर्म या लोक-व्यवहार आवश्यक या अनिवार्य होने पर भी आत्म धर्म के क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं किया जा सकता। दोनों की अपनी-अपनी सीमा है, उसके बाहर दोनों का स्वरूप विघटित हो जाता है। उन दोनों को मिला कर कोई अपनी समन्वयकारी दृष्टि का परिचय देना चाहे तो यह उचित नहीं कहा जा सकता। स्याद्वादी का कार्य वस्तु स्वरूप को जैसा है वैसा जानने या स्थापित करने का है न कि असद्भूत धर्म को जानने या स्थापित करने का।

जिस प्रकार दर्शन क्षेत्र में जैन दार्शनिकों ने लोक दृष्टि का समन्वय करते हुए अवग्रह आदि को यद्यपि "सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष" कहा है किन्तु उसे परमार्थतः प्रत्यक्ष नहीं माना है उसी प्रकार धार्मिक विवेचन के क्षेत्र में

लौकिक कार्यों को व्यवहार धर्म या लोक धर्म कहा जा सकता है किन्तु उसे परमार्थ धर्म या आत्म धर्म का रूप नहीं दिया जा सकता।

तेरापथ के विचारों से ऐसा करना वैसा ही गलत है, जैसा कि घी और तम्बाकू को इकट्ठा कर देना। घी और तम्बाकू दोनों ही अपने अपने स्थान पर अपनी महत्ता रखते हैं। दोनों का ही अपने अपने प्रकार का उपयोग है, किन्तु एकत्रित कर देने पर दोनों ही अपना स्वरूप खो बैठते हैं। ठीक इसी प्रकार से लोकधर्म और परमार्थ को भी समझना चाहिये। एक सामाजिक प्राणी के लिये जीवन में दोनों का ही महत्व है और दोनों ही यथास्थान उपयोगी हैं किन्तु दोनों को तुल्यरूपता देकर एक कर देना किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने विचार क्षेत्र में इस भूले हुए सत्य को फिर से स्थापित किया और इस बात पर जोर दिया कि आत्मा को अपनी शक्ति की सीमा तक खिसका कर नीचे मत गिराओ, उसे अपने ही स्थान पर रहने देकर तुम उस तक पहुंचने की चेष्टा करो। यदि तुम उस तक नहीं पहुँच सकते तो निःसंकोच अपनी असमर्थता स्वीकार कर अपनी सत्य दृष्टि का परिचय दो।

स्वामीजी के विचार-तथ्यों का परिचय संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है —

१—"सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा" आदि सिद्धान्त के पाठ यह बतलाते हैं कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के किसी भी प्राणी को मत मारो, मत सताओ। प्रत्येक प्राणी अपने वश चलने तक जीवित रहने की कामना रखता है, मरने की नहीं, अतः तुम्हारा कर्तव्य ही नहीं बल्कि धर्म है कि उनके इस जीवित रहने के अधिकार में किसी भी प्रकार से बाधक न बनो।

२—जिस प्रकार तुम्हारा जीवन तुम्हें प्रिय है, उसी प्रकार वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों को भी अपना जीवन प्रिय है। यदि तुम अपने जीवन की रक्षा के लिये दूसरे किसी भी प्राणी का वध करते हो तो वह धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे किसी भी प्राणी के जीवन पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है।

३—यदि तुम अनन्यापाय होकर ही अर्थात् जीवित रहने के लिये दूसरा कोई उपाय न मिलने पर ही हिंसा (अन्य जीवों की हिंसा) करते हो तो भी तुम धर्म के भागी कदापि नहीं हो सकते क्योंकि तुम्हारी अपूर्णता या विवशता की सीमा ही अहिंसा की सीमा नहीं है। वह तो संसार के सभी जीव धारियों को अपने में व्याप्त करती है।

४—मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है, अतः उसकी रक्षा के लिये अन्य तुच्छ प्राणियों का वध सामाजिक क्षेत्र में मान्य होने पर भी धर्म क्षेत्र में मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म "मानववाद" को ही मानकर नहीं चलता।

५—यदि तुम आवश्यक हिंसा से मुक्त नहीं हो सकते तो निःसंकोच उसे हिंसा मानो। हिंसा को अहिंसा मानकर करना दो गल्तियाँ करना है जबकि अनिवार्य होने पर हिंसा को हिंसा समझना एक गलती से बचना है।

६—"मित्ति मे सव्व भूएसु" अर्थात् सब प्राणी मेरे मित्र हैं यह सिद्धान्त वीतराग का है, अतः सब प्राणियों की समता का प्रतीक है, जबकि अपने या अपने समान किसी इतर मनुष्य के लिये की गई आवश्यक हिंसा विषमता की प्रतीक है। आवश्यकता मनुष्य की देश कालानुसार स्वयं बनाई हुई होती है, अतः उसकी कोई एक निर्धारित सीमा हो नहीं सकती और तब सारी की सारी हिंसा आवश्यकता के क्षेत्र में प्रविष्ट की जाकर "धर्म" बतलाई जा सकती है, किन्तु ऐसा करना आत्म-वंचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; हिंसा सदैव पाप है, चाहे फिर वह कितनी भी आवश्यक क्यों न हो?

७—किसी एक को सुख पहुंचाने के लिये यदि तुम किसी दूसरे को कष्ट पहुँचाते हो तो तुम्हारी अन्तरतम भावना में एक के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष छिपा हुआ है। राग और द्वेष से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो इन दोनों से दूर माध्यस्थ भाव से ही सम्बन्ध रखता है।

८—यदि तुम किन्हीं दो व्यक्तियों का पारस्परिक कलह उनके हृदय-परिवर्तन द्वारा दूर कर सकते हो तो करो और चेष्टा पूर्वक करो, क्योंकि द्वेष आदि को मिटाना धर्म है। किन्तु यदि तुम उनमें से किसी एक के पक्ष

मे हजार रुपये को चाहे कमजोर को भी विजयी बनाते हो तो तुम स्वयं उसी कलह के, जिसे मिटाने के लिए तुम उसमे सम्मिलित हुए थे, स्वय भी भागी बनते हो।

९—पाप को जबरदस्ती से मिटाने की कोशिश करना पाप है अगर किसी प्राणी को बचाना चाहते हो तो उसके विचार बदलो, पाप स्वय मिट जायेगा।

१०—"बचाओ" की अपेक्षा 'मत मारो" का सिद्धान्त विशिष्ट है। "बचाओ" का कार्य रूप म परिणित करते समय आवेश तथा हिंसा को प्रश्रय देना भी आवश्यक हो सकता है किन्तु "मत मारो' मे ये दोष कभी नहीं पनप सकते। उसम तो अपनी वृत्तियो पर और अधिक नियत्रण करना होता है।

११—तुमने कसाई को समझा कर हिंसा करने का त्याग करा दिया, फलस्वरूप पशु बच गये। पशुओ का बचना तभी सम्भव हुआ जब कि कसाई को हिंसा म पाप का भान हुआ। तुम्हारी समझाने की क्रिया का सीधा सम्बन्ध कसाई से हुआ फलत कसाई की आत्मा का उत्थान हुआ, यही धर्म है। पशुओ का बचना तो आनुषगिक है। पशु दूसरे ही क्षण किसी दूसरे के द्वारा मारा जा सकता है किन्तु तुम्हारा धर्म नहीं मर सकता।

१२—यदि पशु को बचाना ही मूल लक्ष्य हो तो कसाई को धौंस बताकर या रुपये देकर भी ऐसा किया जा सकता है किन्तु धौंस बताना और लालच देना दोनो ही हिंसा मूलक क्रियाएँ ह, धर्ममूलक नहीं। रुपये देना तो कसाई के व्यापार को और भी बढावा देना है। यदि मूल लक्ष्य कसाई को समझाने का हो तो हिंसामूलक वृत्तियों को उत्तेजना भी नहीं मिलती और कसाई के समझने पर हमारा पशु स्वत बच जाते हैं। सारांश यह है कि अहिंसा स्थापना का मूल क्षेत्र कसाई हो सकता है पशु नहीं।

१३—धर्म बलात्कार म नहीं, उपदेश म है अर्थात् हृदय परिवर्तन कर देने म है।

१४—धर्म पैसों से नहीं खरीदा जा सकता, वह तो आत्मा की सत्प्रवृत्तियों में स्थित है।

१५—जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं हो सकता।

१६—धर्म त्याग में है, भोग में नहीं।

१७—संयमी पुरुष को देना ही आध्यात्मिक दान है क्योंकि वह संयम-वर्धक है। शेष दान सामाजिक कर्तव्य और अकर्तव्य में अन्तर्निहित है।

१८—राजनीति और समाज नीति का मूल लक्ष्य केवल लौकिक सदव्यवस्था है जबकि धर्मका मूल लक्ष्य आत्म स्वरूप को प्राप्त करना है अतः धर्म इनसे पृथक् है। फिर भी यह निश्चित है कि राजनीति और समाज नीति में धर्म बाधक न बनकर उनके विशुद्धीकरण में सहायक हो सकता है।

१९—हर जाति और हर वर्ण का मनुष्य धर्म करने का पूरा अधिकारी है क्योंकि धर्म किसी की बपौती नहीं है। वह तो सब कल्याणकारक है।

२०—साधु और गृहस्थ का धर्म पृथक् पृथक् नहीं है, क्योंकि, अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की पूर्णता ही दोनों का आदर्श है। हाँ, इनको अपने जीवन में उतारने में तरतमता अवश्य हो सकती है। तरतमभाव एक ही वस्तु की "विकसित" और "अविकसित" अवस्था विशेष से सम्बन्धित होता है। सर्वथा भिन्न वस्तुओं में तरतमता नहीं हो सकती।

२१—गुणयुक्त पुरुष ही वन्दनीय है, गुणशून्य पुरुष यदि सन्यासी का वेश (बाना) धारे हो तो भी वह वन्द्य नहीं है। महापुरुष की प्रतीक मूर्ति और उनके ज्ञान का प्रतीक शास्त्र दोनों ही वस्तुतः उनके विषय में विशेष जानकारी देने में सहायक हो सकती है लेकिन फिर भी स्वयं चैतन्य शून्य होनेके कारण पूजनीय नहीं हैं।

२२—संसार अनादि अनन्त है, उसका कर्ता ईश्वर नहीं है।

२३—धर्म सारे ही कर्तव्य है पर सारा कर्तव्य धर्म नहीं है, क्योंकि एक सैनिक के लिये युद्ध करना कर्तव्य हो सकता है पर आध्यात्मिक धर्म नहीं।

४ : संगठन के सूत्र

तेरापन्थ संघ में इस समय ६४४ साधु साध्वियां हैं। इनके संचालन का सारा भार एक आचार्य पर है। आचार्य ही इन सबके चातुर्मास तथा विहार करने के स्थानों का निर्धारण करते हैं। प्रायः साधु साध्वियां तीन-तीन और पांच पांच की संख्या में विभक्त किये हुए होते हैं। प्रत्येक ग्रुप (Group) में आचार्य द्वारा निर्धारित एक अग्रणी होता है और शेष उसके अनुगामी। प्रत्येक ग्रुप (Group) को "सिंघाड़ा" कहा जाता है।

ये सिंघाड़े पैदल यात्रा करते हुये भारत के राजस्थान, पंजाब, गुजरात, बम्बई, सौराष्ट्र, कच्छ, उत्तरप्रदेश, उड़ीसा मध्यभारत और मद्रास आदि विभिन्न प्रान्तों में अहिंसा और सत्य का प्रचार करते रहते हैं।

एक आचार्य की आज्ञा में चलने वाले ये साधु साध्वी अपने आपको संघ का एक अंग मानकर कार्य करते हैं। सबका परस्पर भाई भाई का सा सम्बन्ध होता है। "एक के लिये सब और सबके लिये [illegible]
समुदाय में यथार्थ हुई प्रतीत होती है। बाल, रोगी या वृद्ध
[illegible] के साथ किसी प्रकार की [illegible]
[illegible] सौभाग्य समझते हैं।

[illegible] संचालक
[illegible] द्वारा दर्शित विधान
हैं। [illegible] जायंगे [illegible]।

[illegible]

सघ की व्यवस्था मे आज तक किसी भी प्रकार की त्रुटि नहीं आने पाई है और न भविष्य मे ही आ सकने की सम्भावना है। स्वामीजी के ये उद्गार कि साधु जब तक श्रद्धा आचार मे दृढ रहेंगे, वस्त्रादि की मर्यादा का उल्लघन नहीं करेंगे और स्थान नहीं बनायेंगे तब तक यह मार्ग विशुद्ध रूप से चलता रहेगा—उन्हें प्रतिपल जागरूक रहने और अपनी मर्यादा मे दृढ रहने के लिये सदैव प्रेरित करते रहते हैं।

जैन शास्त्रों मे श्रमण सघ के लिये जो मर्यादायें प्रतिपादित है वे तो सर्व मान्य है ही, उनके अतिरिक्त वर्तमान समय को ध्यान मे रख सघ के सगठन को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये जिन मर्यादाओं का निर्माण तेरापथ के आचार्यों ने किया है, वे वस्तुत बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण है।

पाठकों की जिज्ञासा-पूर्ति के लिये उनमें से कतिपय मर्यादाओ का यहाँ उल्लेख किया जाता है, जैसे —

सब साधुओं को एक आचार्य की आज्ञा मे चलना होगा, वर्तमान आचार्य भावी आचार्य का निर्वाचन कर दे, कोई साधु अनुशासन भग न करे, अनुशासन भग करने पर तत्काल बहिष्कृत किया जा सकता है, कोइ साधु अपना अलग शिष्य न बनाये, दीक्षा देने का अधिकार एक मात्र आचार्य को ही है। आचार्य जहाँ कहे वहीं मुनि विहार या चातुर्मास करे, अपनी इच्छानुसार न करे। आचार्य प्रति निष्ठा रखे आदि आदि। उपर्युक्त मर्यादाय एकमात्र आचार्य को ही अनेक अधिकार सौंपती है अत एकतन्त्र प्रणाली की है किन्तु इनके साथ-साथ अन्य सब मर्यादायें समाजवादी प्रणाली के अनुसार है जिनका कुछ विवरण नीचे दिया जाता है —

सम्मुचय[1] के सब कार्य यथाक्रम बारी से किये जाते है। प्रत्येक व्यक्ति

1—जो काय सबके लिये आवश्यक या सबका हा होना है किन्तु उसे सम्पन्न करने लिये एक दो व्यक्ति की ही आवश्यकता होती है, एसे सामूहिक काय 'सम्मुचयका काय' कहते हैं।

अपनी बारी से किया काम करने के बाद जब तक वह काम समाप्त नहीं हो जाता तब तक उस कार्य से निश्चिन्त हो जाता है।

साम्भ' के कार्य पाती से किये जाते हैं। कार्य को व्यक्ति संख्या के अनुसार बांट लिया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति अपने विभाग में आये कार्य को करने का जिम्मेदार होता है।

श्रम संख्या आदि का भार व्यक्ति संख्या के अनुसार बाँट लिया जाता है।

बैठने का स्थान 'साम्भ' के क्रम से तथा शयन का स्थान व्यक्तिक्रम से निर्धारित कर लिया जाता है।

गोचरी (भिक्षाचर्या) में गृहस्थ के घर से सामूहिक रूप से सबके लिये आहार लाया जाता है। जितना आहार आता है उसे पूर्व निर्धारित क्रम से सबमें विभक्त कर दिया जाता है। दस साधु हो और गोचरी में पांच रोटियाँ आयें तो आधी आधी सबको मिलेंगी। यह नहीं हो सकता कि पांच खायें और पांच भूखे ही रहें।

हस्तलिखित ग्रन्थों पर व्यक्तिगत अधिकार न होकर संघ का अधिकार होता है, उनका उपयोग आचार्य की आज्ञा से सभी कर सकते हैं। आवश्यक ग्रन्थों का नियमित रूप से लेखन भी एक व्यवस्था के आधार पर सबको करना होता है और वे ग्रन्थ भी उन लेखकों के न होकर संघ के ही होते हैं।

साधु चर्या में आवश्यक उपकरणों का (रजोहरण, प्रमार्जनी आदि का) निर्माण भी सामूहिक रूप से होता है और उस पर संघ का अधिकार होता है। साधु संघ की वार्षिक आवश्यकता की मात्रा को ध्यान में रख कर ही इनका निर्माण कराया जाता है।

१—आचार्य के समीप रहनेवाले साधु साध्वियों का चित्त समाधि या आहार आदि की व्यवस्था के लिये पाँच पाँच या सात सात व्यक्तियों के बनाये गये ग्रुप को 'साम्भ' कहते हैं। इसमें एक व्यक्ति पर उसका भार होता है। एसे अपने ग्रुप के कार्य को साम्भ का कार्य कहते हैं।

प्रत्येक अग्रणी साधु से प्रति दिन २५ गाथा के हिसाब से कर लिया जाता है और प्रत्येक अग्रणी साध्वी से प्रति वर्ष एक रजोहरण और एक प्रमार्जनी के निर्माण के रूप में कर लिया जाता है। जो अग्रणी यह कर नहीं दे सकता उससे वृद्ध तथा रोगी की सेवा चाकरी के रूप में कर लिया जा सकता है। पच्चीस गाथा और एक दिन की सेवा बराबर गिनी जाती है।

संघ की आवश्यकता पूर्ति के लिये लिखाये गये ग्रन्थ के प्रत्येक श्लोक को तथा ३७ अक्षर प्रमाण गद्य को एक "गाथा" कहा जाता है। "गाथा" साधु संघ में श्रम तथा वस्तु के विनिमय का माध्यम भी होती है। जो व्यक्ति जितनी गाथाएँ लिखकर संघ को समर्पित करता है वे सब उसके नाम जमा कर ली जाती हैं। आवश्यकता होने पर वह अपनी गाथाओं को खर्च कर सकता है।

जो ग्रन्थ लेखन नहीं कर सकता वह दूसरे का कार्य करके गाथा संग्रह कर सकता है। किस किस कार्य के लिए कितनी कितनी गाथाएं मिलती हैं इसका भी नियम है। कुछ कार्य ऐसे हैं जिनपर गाथाओं की लागत का नियन्त्रण नहीं है। उनका गाथा मूल्य घटता बढ़ता रहता है। जमा की गई यह गाथाओं की पूँजी मृत्यु के बाद समाप्त समझी जाती है। एक की गाथा संख्या पर दूसरे का कोई अधिकार नहीं होता।

इस प्रकार तेरापंथ के विधान में एक तन्त्र के साथ समाजवाद का एक ऐसा सम्मिश्रण हुआ है जिसका कोई दूसरा उदाहरण मिलना कठिन ही नहीं किन्तु बहुत ही असम्भव है। धार्मिक परम्परा में तो यह व्यवस्था अभूतपूर्व कही जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। करीब दो सौ वर्ष पुराना यह समाजवाद तेरापंथ के आचार्यों के उर्वर मस्तिष्क की आदर्श देन है।

जिस समय भारतवासियों ने सभवतया समाजवाद का नाम भी नहीं सुना था, उस समय में तेरापंथ के धर्माचार्यों ने अपने संघ में ऐसे नियम प्रचलित कर दिये थे जिनसे उत्पादन और श्रम पर व्यक्ति का अधिकार न होकर संघ का अधिकार रहे। वर्तमान समाजवाद के मूल सिद्धान्तों को

उन्होंने बहुत पहले से ही अपने अन्तर्ज्ञान से खोज लिया था और अपने धर्म संघ पर उसका सफल प्रयोग किया था। ये बातें किसी भी खोजी इतिहासिक के लिये बड़े आश्चर्य का विषय होंगी।

तेरापंथ के वर्तमान अखण्ड संगठन की प्राय सभी जगह प्रशंसा है इसका सम्पूर्ण श्रेय यदि किसी को दिया जाय तो वह इन मर्यादाओं के निर्माता तेरापंथ के भविष्यद्रष्टा आचार्यो को ही एक मात्र दिया जा सकता है। यदि इस संगठन का कोई अनन्य कारण बतलाया जाये तो एक मात्र इसके समाजवादी विधान को ही बतलाया जा सकता है। इस विधान का ही यह फल है कि इतना बड़ा साधु समाज एक गति विधि से मानव कल्याण के पुनीत मार्ग पर अग्रसर हो रहा है।



५ तीन महोत्सव

"सदा दिवाली संत के आठों प्रहर आनन्द" यह एक अति प्रचलित पुरानी कहावत है, जिसका भावार्थ है—साधु जन के तो सदैव पर्व और आनन्द होता है, वे इन बाह्य पर्वों या आनन्दों को क्या मनाये? परन्तु यह कहावत—गृहस्थों द्वारा मनाये जानेवाले पर्वों से साधु को अलग रहना चाहिये, क्योंकि वे भौतिक सुख सामग्री और शारीरिक आनन्दोल्लास के ही प्रायः द्योतक होते हैं—इस भावना को प्रगट करने के लिये है। आध्यात्मिक पर्व तो लक्ष्य को और भी नजदीक लाने में सहायक होते हैं—गति को वेग देना अध्यात्म में भी आवश्यक होता है और वह वेग पर्व देते हैं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

पर्यूषण, सम्वत्सरी आदि जैनों के ऐसे ही पर्व हैं जो प्रत्येक व्यक्ति को जागरूक रहने पर क्षमाशील और अद्वेषी बनने की प्रेरणा देते हैं। अध्यात्म-पर्व आत्म जागरण, स्तवन, ध्यान, चिन्तन तथा तपश्चर्या आदि के द्वारा ही मनाये जाते हैं।

तेरापंथ में उपर्युक्त पर्यूषण आदि पर्व तो मनाये ही जाते हैं पर इनके सिवाय और भी तीन पर्व मनाये जाते हैं—जिन्हें महोत्सव कहते हैं। ये तीनों महोत्सव अपना अलग अलग महत्व रखते हैं। तेरापंथ की प्रगति और संगठन में इन महोत्सवों का भी बहुत बड़ा सम्माननीय स्थान रहा है। इन तीनों का क्रमशः पाट महोत्सव, चरम महोत्सव और मर्यादा महोत्सव कहा

जाता है। तेरापथ के चतुर्थ आचार्य श्री जयाचार्य ने शासन हित की दृष्टि से इनका सूत्रपात किया था। पाट महोत्सव का प्रारम्भ सवत् १६.१९ में, चरम महा मत्र का सवत् १६.१४ म और मर्यादा-महोत्सव का सवत् १६२१ म हुआ था। तब से आज तक उत्तरोत्तर बढते हुए हर्ष के साथ प्रतिवर्ष य महोत्सव मनाये जाते रहे हैं।

(१) पाट-महोत्सव

यह महोत्सव वर्तमान आचार्य के पट्टारोहण दिवस के उपलक्ष म मनाया जाता है। अन्य महोत्सवों के समान इसकी तिथि नियत नहीं होती। प्रत्येक आचार्य की विधिवत् शासन सूत्र सभालने की तिथि ही इसकी तिथि होती है। तेरापथ के वर्तमान नवम् आचार्य श्री तुलसीगणी भाद्र शुक्ला नवमी के दिन सिंहासनासीन हुए अत इस महोत्सव का वतमान तिथि यही है। इस दिन आचार्य अपने विगत वर्षका सिंहावलोकन करते है और अपने भावी कार्यक्रम की दिग सूचना देते है। तत्रस्थ साधु-समाज आचाय की वन्दना करते है और निष्ठा पूर्वक आचार्यदेव के सान्निध्य मे शासन सेवा के लिये अपने जीवनोत्सर्ग की कामना करते हैं।

(२) चरम महोत्सव

यह महोत्सव तेरापथ के आदि सस्थापक प्रात स्मरणीय प्रथमाचाय श्री भिक्षुगणी की शुभ स्मृति के उपलक्ष म मनाया जाता है। सवत् १८६० भाद्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन स्वामीजी दिवगत हुए थे, उनके क्रान्तिमय जीवन का यह चरम दिन (अन्तिम दिन) था। महापुरुषों का जीवन जितना मूल्यवान् होता है मरण उससे भी कहीं बढकर होता है। जीवन साधक्षेत्र है तो मरण साधना की पूर्णता। सारे जीवनका सचित अनुभव—अमृत मरण के रूप म अमर बन कर जगत् को अमरता का संदेश देता है। यही कारण है कि महापुरुष मरण के उपरान्त भी जीवित रहते हैं। जीवित ही नहीं किन्तु जीवितकाल से भी अधिक निरन्तर अनेकों मुमुक्षुओं का जीवन सफल प्रदान करत है।

स्वामीजी ने अपने जीवन भर के विचारानुभवों का रस अपने अंतिम उपदेशों में निचोड़ कर रख दिया था। उनकी चरम तिथि जगत् के एक परम उपदेष्टा के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशन की तिथि है, यही चरम महोत्सव है इस दिन स्वयं वर्तमान आचार्य द्वारा स्वामीजी के जीवन पर नाना दृष्टियों से प्रकाश डाला जाता है और स्वामीजी की जलाई हुई सच्चरित्रता की लौ को सदा प्रज्ज्वलित रखने का संकल्प किया जाता है।

साधुगण भी कविता, गीतिका और भाषण आदि से स्वामीजी के प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रदर्शित करते हैं और उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर अविचल भाव से चलते रहने का संकल्प करते हैं।

(३) मर्यादा महोत्सव

यह महोत्सव माघ शुक्ला सप्तमी के दिन मनाया जाता है। इसे माघ महोत्सव भी कहते हैं। यह दिन तेरापंथ के विधान की पूर्णता का दिन है। इस अवसर पर तेरापंथ का प्रायः समूचा साधु संघ आचार्य श्री द्वारा पूर्व निर्दिष्ट किसी एक क्षेत्र में एकत्रित होता है। विगत वर्ष में किया गया कार्य आचार्य देव से निवेदित किया जाता है और आगामी वर्ष के लिये एक कार्यक्रम निर्धारित किया जाता है। साधु साध्वियों के विहार तथा चातुर्मास के क्षेत्र भी आचार्य देव द्वारा प्रायः इसी समय निर्णीत किये जाते हैं। साधुओं में परस्पर विचार गोष्ठियाँ होती रहती हैं, जिनमें संघ की आन्तरिक व बाह्य स्थितियोंपर तथा सैद्धान्तिक, दार्शनिक या साहित्यिक विषयों पर विचार विनिमय किया जाता है, कभी कभी कविता, लेख, भाषण आदि की प्रतियोगिता भी होती रहती है। सारांश यह है कि माघ महोत्सव तेरापंथ की प्रवृत्ति का केन्द्र बना हुआ है।

चातुर्मास समाप्ति से लेकर माघ शुक्ला ७ तक के दिन तेरापंथ श्रमणसंघ के लिये बहुत ही उपयोग के हो जाते हैं। आचार्यदेव की शिक्षाओं, विचार गोष्ठियों तथा प्रतियोगिताओं आदि द्वारा ये दिन इतने व्यस्त कार्यक्रम के होते हैं कि समय की कमी अखरे बिना नहीं रहती।

सप्तमी के दिन आचार्यश्री द्वारा मर्यादाओं का वाचन होता है। और

सारे श्रमण संघ को उन मर्यादाओं में अडिग रूप से चलने की प्रेरणा दी जाती है। स्वय स्वामीजी के हाथ से लिखा हुआ वह जीर्ण सा मर्यादापत्र, जिसके आधार पर यह महोत्सव मनाया जाता है सबको दिखलाया जाता है। इस अवसर पर साधु साध्वियों के भाषण, कविताएँ आदि भी होती है।

तेरापंथ संघ अपने शासन के विधान को बहुत ही पवित्र दृष्टि से देखता है। क्योंकि वह जानता है कि एक आचार, एक विचार और एक आचार्य की लाभदायक पद्धति को स्थिर बनाये रखने के लिए विधान के प्रति श्रद्धालु होना अत्यन्त आवश्यक है। विधान की वफादारी ही संघ ऐक्य की प्रथम शर्त हुआ करती है। अतः प्रत्येक साधु साध्वी को विधान में लिखित मर्यादाओं का प्रतिज्ञाबद्ध होकर पालन करना होता है। कोई भी व्यक्ति इसमें अपने लिए अपवाद प्राप्त नहीं कर सकता। महोत्सव के दिनों में नई मर्यादाओं के निर्माण तथा पूर्व मर्यादाओं में परिवर्तन सम्बन्धी समयानुकूल अनेक सुझाव भी आचार्य श्री के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं। उनमें से उपयोगी सुझावों पर आवश्यकतानुसार विचार विमर्श के बाद आचार्य श्री स्वीकृति प्रदान करते हैं और समस्त साधु साध्वी संघ से तद्विषयक लिखित स्वीकृति करते हैं। तब वह मर्यादा के रूप में विधान का एक अपरिहार्य अंग बन जाती है। कुछ प्राचीन परम्पराएं अलिखित होते हुए भी मर्यादा के समान मानी जाती हैं और उनका पालन भी विधान के समान ही अपरिहार्य होता है।

माघ शुक्ला सप्तमी के आसपास के दिनों में ही प्रायः एक "हाजरी" का आयोजन भी होता है। जिसमें साधु और साध्वियां पर्यायक्रम से खड़े होकर "लेख पत्र" में लिखित मर्यादाओं की शपथ लेते हैं।

महोत्सव सम्पन्न होने के बाद शीघ्र ही साधु साध्वियों के विहार प्रारम्भ हो जाते हैं और वे प्रायः अपने अपने गन्तव्य स्थानों की ओर आगामी महोत्सव में सम्मिलित होने की गांठ बांधकर चल पड़ते हैं।

★

६ दीक्षा पद्धति

तेरापंथ में दीक्षा के विषय में यह नियम है कि कोई भी साधु-साध्वी अपना अलग शिष्य नहीं बना सकता। केवल एक वर्तमान आचार्य के ही सब शिष्य होते हैं। भिक्षु स्वामी की दूरदर्शिता के कारण ही यह संघ पृथक् पृथक् शिष्य बनाने की परम्परा के दूषित परिणामों से बचा हुआ है, नहीं तो अन्य सम्प्रदायों की तरह यह भी अलग अलग टुकड़ों में बट गया होता। पाठकों की जानकारी के लिए तेरापंथ की दीक्षा-पद्धति विषयक कुछ विवरण यहाँ दिया जाता है —

दीक्षार्थी जब अपनी दीक्षा की भावना आचार्य श्री के पास निवेदन करता है तब वे उसके आचरण, ज्ञान, वैराग्य और प्रकृति आदि के [illegible] में कठोर परीक्षण करते हैं। कई बार इस परीक्षण में पाँच-पाँच, [illegible] वर्ष तक गुजर जाते हैं। जो दीक्षार्थी इस परीक्षण में ठीक [illegible] सम्भावित दीक्षा तिथि घोषित कर दी जाती है और शेष [illegible] देने से इन्कार कर दिया जाता है।

परीक्षा में उत्तीर्ण दीक्षार्थी को भी दीक्षा [illegible] दीक्षा के लिये पूर्व निर्धारित सार्वजनिक स्थान में [illegible] हुई आम जनता के समक्ष उसके अभिभावक [illegible] तथा लिखित स्वीकृति-पत्र भी आचार्य देव को [illegible]

[illegible]

७ तपश्चर्या

साधु जीवन स्वयं ही तपोमय है, फिर भी उस जीवन में रहने वाले व्यक्तियों को विशिष्ट आत्म शुद्धि के लिए विविध तपश्चर्या की आवश्यकता है। वह तो साधु अपने लिए भोजन न तो बनाता है, और न अपने लिए बनाये भोजन का उपयोग ही करता है, गृहस्थ स्वयं अपने खाने के लिए जो भोजन बनाता है उसीमें से यदि वह कुछ हिस्सा देना चाहे तो साधु उसे समझाकर कि तुम इस दिये जानेवाले हिस्से की पूर्ति के लिए दूसरा भोजन नहीं बना सकोगे और तुम्हें अवशिष्ट मात्रा से ही सन्तोष करना होगा—वह भोजन ले सकता है। केवल भोजन ही नहीं, वस्त्र आदि भी इसी प्रकार से लेने होते हैं। इस प्रकार की भिक्षाचर्या को भी सिद्धान्त में तपश्चर्या का ही एक भेद बतलाया गया है किन्तु यहां हम जिस तपश्चर्या के विषय में कह रहे हैं उसका सम्बन्ध उपवास या निराहार रहने से है।

प्राचीनकाल में ऋषियों की तपश्चर्या का जो वर्णन सुनने में आता है, वह इस संघ में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। बहुत से साधु आजीवन के लिये एकान्तर तप (एक दिन के अन्तर से आहार) करते हैं। पाँच, सात, आठ दिन की तपस्या तो साधारणतया होती ही रहती है। बहुत से साधु ऐसे भी हैं जो पन्द्रह पन्द्रह, बीस बीस तथा तीस-तीस दिन की तपस्या अनेक बार कर चुके हैं। चालीस चालीस और पचास पचास दिनों की तपस्या करने वाले

भी इस संघ में मौजूद हैं। सर्वाधिक १०८ दिनों की तपस्या इस संघ में हो चुकी है। स्मरण रहे यहाँ उन्हीं तपस्याओं का उल्लेख किया गया है, जिनमें पानी के सिवाय और कुछ नहीं लिया जाता। ऊपरी हुई छाछ (तक्र) का नितरा हुआ पानी पीकर तो दो, चार, छह और आठ आठ महीने तक की तपस्या हो चुकी है।

पाठकों की जिज्ञासा पूर्ति के लिए यहाँ एक तपस्वी साधु के तप का विवरण दिया जाता है। तपस्वी श्री शिवजी स्वामी ने अपने ५५ वर्ष के साधु जीवन में इस प्रकार तपस्या की —

एक दिन की ४०२, दो दिन की २२, तीन दिन की ३४, चार दिन की ८, पाँच दिन की ११, छह दिन की ७, सात दिन की ३, आठ दिन की ६, नौ दिन की ३, दस दिन की ५, ग्यारह दिन की ३, बारह दिन की ३, तेरह दिन की २, चौदह दिन की ६, पन्द्रह दिन की ३, सोलह दिन की २, तीस दिन की १२, बत्तीस दिन की १, छत्तीस दिन की २, चालिस दिन की १, पैंतालिस दिन की ६, पचास दिन की २, पचपन दिन की १, साठ दिन की ५, अठहत्तर दिन की १, नब्बे दिन की १, एक सौ छयासी दिन की १।

उपर्युक्त विवरण के ८० दिन तक के पृथक् पृथक् तप जल के आधार पर और १८६ दिन का तप जल और आछ (छाछ के नितरे जल) के आधार पर किया गया है।

यह एक साधु की तपस्या का विवरण है। ऐसे अनेक साधु तपस्वी हुए तथा वर्तमान में भी हैं। आज के भौतिक युग में इस प्रकार की तपस्या वस्तुतः चकित कर देनेवाली है।



८ शिक्षा और कला

शिक्षा के विषय में तेरापंथ श्रमण संघ ने काफी प्रगति की है। यद्यपि वैतनिक अध्यापकों के पास नहीं पढ़ते तथा स्कूल, कालेज आदि में शिक्षा ग्रहण नहीं करते फिर भी अपनी ज्ञानार्जन की क्रिया में साधारणतः वे किसी से कम नहीं रहते। संघ की शिक्षा-व्यवस्था आचार्यश्री स्वयं सम्पादित करते हैं।

संघ में इस समय आध्यात्मिक-शिक्षा-क्रम नामक पाठ्य प्रणाली चालू है। इसके विधानानुसार क्रमशः व्याकरण, आगम, साहित्य, दर्शन, कोष और इतिहास—ये पांच विषय तो अनिवार्य हैं तथा कला, ज्योतिष और अन्य कोई एक भाषा ये तीन विषय वैकल्पिक हैं। इनमें से यथेष्ट किसी एक विषय का लेना भी अनिवार्य है।

प्रवेशिका परीक्षा के एक वर्ष को सम्मिलित कर देने पर इसका पठनकाल आठ वर्ष का है। यथा समय नियमानुसार परीक्षा भी ली जाती है और उसमें उत्तीर्ण होने पर आगामी वर्ष की पढ़ाई में सम्मिलित हुआ जा सकता है। इस पाठ्यक्रम का भाषा माध्यम संस्कृत और हिन्दी है। जो संस्कृत के माध्यम से दर्शन आदि विषयों की पढ़ाई करने में समर्थ नहीं हैं, उनके लिये एक दूसरी प्रणाली "सिद्धान्त शिक्षाक्रम" नाम से आयोजित की गई है। इसका पठनकाल ७ वर्ष का रखा गया है। इसमें जैन सिद्धान्तों की जानकारी के लिए विशेष ध्यान दिया जाता है।

शिक्षा के साथ साथ संघ का कला पक्ष भी काफी उज्ज्वल रहा है। साधु चर्या के उपयोगी उपकरणों के निर्माण में जिस हस्तकौशल से काम लिया जाता है वस्तुतः वह बड़ा ही दर्शनीय होता है। रजोहरण, प्रमार्जनी आदि उपकरण प्रयास साध्य होते हुए भी प्रायः बहुत ही कलापूर्ण ढंग से बनाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त साधु-जनोचित वस्त्रों की सिलाई तथा पात्रों के रंगन आदि का कार्य भी बड़ी ही कलापूर्ण पद्धति से किया जाता है।

हस्तलिपि की कला में तो कई साधुओं ने गजब ही ढाह दिया है। आज के यान्त्रिक युग में जबकि हस्तलिपि इतिहास की एक कहानी मात्र रह गई है और घसीट [illegible] लिखना ही विद्वता का एक चिह्न मान लिया गया है, साधुओं की हस्तलिपि अपनी सुन्दरता और सफाई में कोई सानी नहीं रखती। सूक्ष्म लिपि में तो उन्होंने एक आदर्श ही उपस्थित कर दिया है। सूक्ष्म लिपि कलाओं ने तो ऐसे पत्र लिखे हैं जिनमें दो दो हजार और ढाई ढाई हजार श्लोक समा गये हैं। ये पत्र केवल नौ इंच लम्बे और चार इंच चौड़े दोनों ओर लिखे हुए हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि इनके लेखन में किसी प्रकार के चश्मे आदि का कोई प्रयोग नहीं किया गया। इन्हीं मानवीय आँखों के बल पर यह कार्य किया गया है। संवत् २००३ में लिखे गये एक पत्र की अक्षर संख्या लगभग अस्सी हजार है।

कुछ आध्यात्मिक तत्त्वों को समझाने के लिये साधु चित्र भी बनाते हैं। इन सब विषयों की विशेष जानकारी तो निकट सम्पर्क में आने से ही प्राप्त की जा सकती है।



६ साहित्य-सर्जन

तेरापथ के आचार्यों तथा साधुओं ने साहित्य के सर्जन [illegible]
भी अपना विशेष योग दिया है। स्वामीजी से लेकर आज [illegible]
सर्जन की परम्परा अबाध गति से चालू है, इसका पूरा [illegible]
अवश्य ही श्रम साध्य तथा समय साध्य काम है, किन्तु यहाँ [illegible]
दर्शन के रूप में संक्षिप्त सा परिचय ही दिया जा रहा है।

तेरापथ की नींव रखने के साथ ही साथ तेरापथ [illegible]
भी स्वामीजी ने ही रखी। मूल जैन सिद्धान्त और [illegible]
म फैलाने के उद्देश्य से ही स्वामीजी ने अपनी [illegible]
स्वाभाविक था कि वे जनता की भाषा का [illegible]
अधिकांश में राजस्थान ही रहा अत यहाँ [illegible]
में ही स्वामीजी ने कृतियाँ कीं। उन रचनाओं [illegible]
जीवन के लिये उपयोगी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ [illegible]
विश्लेषणात्मक, शुद्ध आचार विशोधक, [illegible]
नात्मक तथा शुद्ध स्तवन आदि प्रकीर्ण [illegible]
काल में लगभग ३८००० हजार पद्यों [illegible]
"भिक्षु जश रसायन" आदि में मिलते [illegible]
रागिनीपूर्ण कविताओं के रूप में हैं। [illegible]

कृतियों को "भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर" नाम से एक जगह सकलित कर लिया गया है। उनकी रचनाओ मे से कुछ मुख्य रचनाये ये है।

आचार की चौपाइ, श्रद्धा की चौपाई, बारह व्रत की चौपाई, कालवादी की चौपाइ, चार निक्षेपों की चौपाइ, अनुकम्पा की चौपाई, विनीत-अविनीत की चौपाई, शील की नववाड, नव सद्भाव पदार्थ निर्णय, भरत चरित्र, सुदर्शन चरित्र इत्यादि।

तेरापथ के चतुर्थ आचार्य श्री जयाचार्य की साहित्य-साधना भी स्वामीजी की तरह नाना प्रवाहो मे बही है। आगम साहित्य की पद्यबद्ध टीकायें, तत्त्व विश्लेषण, आख्यान, जीवन चरित्र, शिक्षा, मर्यादा, चर्चा इत्यादि विषयों पर आपकी लेखनी ने बहुत ही गहरा प्रभाव डाला है। आपके ग्रन्थ भी राजस्थानी भाषा मे है। आप तो जन्म जात कवि थे। ६ वर्ष की अवस्था से ही आपने अपने कवि जीवन का प्रारम्भ कर दिया था। "सतगुण माला" उसी छोटी अवस्था की प्रथम कृति है। आपने अपने जीवन काल मे जो रचनाये की उनमे से केवल एक "भगवती की जोड" की पद सख्या ही लगभग ६० हजार है। आपकी रचनाओं मे से कुछ का यहाँ नामोल्लेख किया जाता है —

भगवती की जोड, उत्तराध्ययन की जोड, पन्नवणा की जोड, आचारांग की जोड, निशीथ की जोड, भ्रमविध्वसन, कुमति विहडन, सदेह विषौषधि प्रश्नोत्तर तत्त्व बोध, जिनाज्ञा मुख मडन, भिक्षु जश रसायन, नय-जश, दीप जश इत्यादि।

वर्तमान आचार्य श्री तुलसी गणीने इस साहित्य साधना की धारा को अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य से और भी अधिक बल प्रदान किया है। आपकी रचनायें सस्कृत, हिन्दी, और राजस्थानी इन तीनो भाषाओंके कोष की श्री वृद्धि करती है। दर्शन, सिद्धान्त, आख्यान, जीवनी इत्यादि अनेक विषयों मे आपने अपनी लेखिनी का उपयोग किया है। आपकी भावी रचनाओं से अध्यात्म साहित्य को बहुत बडा सम्बल मिलेगा यह निर्विवाद कहा जा सकता है। आपकी प्रखर बुद्धि से उद्भूत कुछ ग्रन्थरत्न निम्नोक्त है —

संस्कृत जैन सिद्धान्त दीपिका, न्यायकर्णिका, शिक्षा षण्णवति, कर्तव्य षट्त्रिंशिका। राजस्थानी—कालुयशोविलास, उपदेश वनिका। हिन्दी—शैक्ष शिक्षा प्रकरण, इत्यादि।

तेरापंथ के साधु भी साहित्य प्रणयन में अच्छा भाग लेते हैं। उनमें बहुत से कुशल वक्ता, आशु कवि तथा लेखक हैं। साधुओं की तरह साध्वियाँ भी संस्कृत तथा हिन्दी में काव्य, प्रवचन, तथा लेखन आदि में सिद्धहस्त हैं। मेधावी साधुओं द्वारा लिखित कुछ ग्रन्थ निम्नलिखित हैं —

भिक्षु शब्दानुशासन (संस्कृत महाव्याकरण) जिसकी वृत्ति १८००० हजार श्लोक प्रमाण है। भिक्षु शब्दानुशासन लघु वृत्ति, कालू कौमुदी (सं० लघु प्रक्रिया) तुलसी प्रभा (सं० हैम व्याकरण लघु प्रक्रिया) तुलसी मञ्जरी (हैम प्राकृत व्याकरण प्रक्रिया) अर्जुन मालाकारीयम् (सं० गद्य काव्य) प्रभव प्रबोध (सं० गद्य काव्य) शान्त सुधारस टीका, युक्तिवाद, कुसुमम्, स्मितम्, अहिंसा, दयादान, अहिंसा और उसके विचारक, अहिंसा की सही समझ, युग धर्म तेरापंथ, आचार्य श्री तुलसी (जीवनी), अणुव्रत जीवन दर्शन अणुव्रत दर्शन, अणुव्रत दृष्टि, आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी, विचार बिन्दु आदि आदि।

इस समय भी दो साहित्यिक योजनाय चल रही है—एक तेरापंथ के दो सौ वर्षों के इतिहास निर्माण की और दूसरी आगमों के अनुवाद की। आगम योजना के अन्तर्गत जैनागमों का शब्द-चयन किया गया है, जिससे शब्दों के भाष्य टीका आदि में विभिन्न स्थानों पर किये गये विभिन्न अर्थों को संकलन करते हुए उनका सामञ्जस्य बिठाया जा सके और उनकी पृष्ठ-भूमि में रही हुई भिन्नार्थकता का सही पता लगाया जा सके। संचित शब्दों का उपयोग शब्द कोष बनाने में किया जायेगा और साथ ही उनमें से विशिष्ट शब्दों को विभिन्न वर्गों में छाण्टकर वर्गानुसारी संग्रह भी किया जायेगा ऐसा निश्चय हुआ है। इस सारे कार्य को जैनागमों के हिन्दी अनुवाद की पूर्व भूमिका के रूप में कहा जा सकता है। तेरापंथ की प्रथम

शताब्दी की पूर्णता के आसपास जैनागमों की राजस्थानी भाषा में पद्य बद्ध टीकायें लिखी गई थीं तो दूसरी शताब्दी के अन्तिम वर्षों में हिन्दी अनुवाद की योजना चालू की जाए—यह वास्तव में तेरापंथ की साहित्य परम्परा के अनुकूल ही है।

साहित्य के विकास तथा सृजन शक्ति को बल देने के लिए "जय-ज्योति' नामक हस्त लिखित पत्रिका भी निकाली जाती है जिसमें साधु साध्वियों के संस्कृत तथा हिन्दी के लेख, कवितायें, कथायें आदि प्रकाशित होती है। इसके पथा विशेषांक आदि कुछ विशेषांक भी निकाले गये है जो काफी सुन्दर बन पड़े है।



१० लोकहितकारी प्रवृत्तियां

आत्म हित की साधना के साथ साथ पर-हित की साधना भी साधु-जीवन का उद्देश्य होता है। तेरापथ के साधु अपने सयम की अक्षुण्णता रखते हुए पर कल्याण मे सदा तत्पर रहे हैं। भटकी हुई जनता को नैतिकता का द्वार दिखाना सदैव उन्होंने अपना कल्याण का मार्ग समझा है। वस्तुत पर कल्याण भी स्व कल्याण का ही एक आवश्यक अंग है। इसीलिये तो जब जब अनैतिकता का वातावरण छा जाता है तब तब कोई न कोई महर्षि उसके विनाश मे अपना जीवन लगा देने तक को उद्यत हो जाते हैं।

तेरापथ के आचार्य समय समय पर जनता के तत्कालीन कुसस्कारों, दुर्गुणों और दुर्व्यसनों के विरुद्ध कार्य करते रहे हैं, वे अपने आदर्श जीवन और उपदेशों के द्वारा समाज को सुसस्कार और सद्गुणों की ओर बढने की प्रेरणा देते रहे हैं जिनसे जनता की अनेक बुराइयो का विनाश तथा ह्रास हुआ है। वर्तमान आचार्य श्री तुलसीगणी का हृदय भी वर्तमान की अनैतिक वृत्तियों के प्रति विद्रोह करता है, जनता का अध पात आप के चित्त को ठेस पहुंचाता है, अत समय समय पर आप उसके उत्थान का उपक्रम करते आये हैं। कुछ वर्ष पहले एक तेरह सूत्री योजना के द्वारा आचार्यश्री ने जनता की अनैतिक प्रवृत्तियों और कुरूढियों को दूर हटाने का प्रयास किया था, जो कि काफी सफल रहा। हजारों व्यक्तियों ने धूम्रपान,

परस्त्रीगमन, खाद्य पदार्थो मे मिलावट, तौल-माप मे कमी बेसी, कन्या विक्रय या वर विक्रय आदि दुर्गुणो को छोड कर अपने मे छिपी हुई मानवता का व्यक्त परिचय दिया था। उस प्रचार से आचार्यश्री ने अनुभव किया कि मानव की मानवता मर नहीं गई है किन्तु मूर्च्छित है, यदि उसे जगा दिया जाय तो मनुष्य अपनी सम्पूर्ण मनुष्यता के साथ इस भूलोक को ही स्वर्ग बनाकर जी सकता है। फलस्वरूप मनुष्य की सद्वृत्तियो और मानवता को जगाने के लिये आचार्य देव ने पूर्वोक्त तेरह नियमो को अपने मे गर्भित करनेवाले अणुव्रत नियमो की एक विशाल योजना तैयार की। हिंसक और दुर्गुणी वृत्तिवाले जब सगठित होकर काम करते है तो अहिंसक और सद्गुणी व्यक्तियो का तो और भी सरलता से सगठित किया जा सकता है। इसी बात को ध्यान मे रख कर सवत् २००५ की फाल्गुन शुक्ला २ के दिन अणुव्रत-योजना को कार्यरूप मे परिणत करते हुए आपने अणुव्रती सघ की स्थापना की और तब से ही एकनिष्ठ होकर अणुव्रतों का प्रचार करने मे लगे हुए है।

करीब पांच छ वर्षो के अनुभवो और प्रयोगो के बाद "अणुव्रती सघ" को "अणुव्रत आन्दोलन" का रूप दिया गया और नियमावली मे भी यथावश्यक परिवर्तन किये गये। ये परिवर्तन आन्दोलन के वार्षिक अधिवेशनो मे आनेवाले सुझावो और अणुव्रतियों के जीवन मे घटित होनेवाली घटनाओ के आधार पर किये गये। शीघ्रता से बदलती हुई परिस्थितियों मे नियमो की भाषा को व्यापक और समाही रूप देने के लिये भी इन परिवर्तनो की आवश्यकता जान पडी। अणुव्रत नियमों की रचना मनुष्य की चिरकालिक बुराइयों के आधार पर की गई है और परिस्थितिजन्य सामयिक बुराइयो को उदाहरण के रूप मे उनमें अन्तर्गर्भित कर दिया गया है। पहले नियमो की सख्या ८४ थी अब ४८ है।

अणुव्रत आन्दोलन का लक्ष्य है—जाति, देश, वर्ग और धर्म का भेदभाव न रखते हुए मनुष्यमात्र को आत्म-सयम की ओर प्रेरित करना तथा अहिंसा और विश्व शान्ति की भावना का प्रसार करना, अणुव्रत नियमो का ग्रहण

करनेवाले व्यक्ति अणुव्रती कहलाते हैं। उन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है—(१) सब व्रतों को (४८ व्रतों को) ग्रहण करनेवाले व्यक्ति 'अणुव्रती' हैं। इसके साथ साथ अन्य ६ विशिष्ट व्रतों को ग्रहण करनेवाले 'विशिष्ट-अणुव्रती' और कम से कम ११ व्रतों को जो कि ४८ नियमों में से ही चुन कर रखे गये हैं ग्रहण करनेवाले "प्रवेशक अणुव्रती" कहलाते हैं।

अणुव्रत पांच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। त्रिकरण और त्रियोग से जब ये पांचों व्रत अपनी सम्पूर्णता से जीवन में उतार जाते हैं तो इन्हें महाव्रत कहा जाता है, किन्तु गृही जीवन में इनकी पूर्णता में एक अशक्यानुष्ठान है, अतः कुछ छूट के साथ अर्थात् जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति के अतिरिक्त जब एक सीमाबद्ध होकर ये जीवन में उतर जाते हैं तब इन्हें अणुव्रत (छोटे नियम) कहा जाता है। "अणुव्रत" जैन आचार शास्त्र का शब्द है। भिन्न भिन्न प्रकार से जीवन-यापन करनेवाले व्यक्तियों के लिये जो ये भिन्न भिन्न ४८ नियम बतलाये हैं, वे सब इन्हीं मूल पांच व्रतों की विशेष व्याख्या के रूप में हैं। नियमों के पूरे विवरण के लिये 'अणुव्रत आन्दोलन' की नियमावली देखनी चाहिये। यहां तो केवल संक्षिप्त सा परिचय दिया जा रहा है —

अहिंसा अणुव्रत के नियम

(१) चलने फिरनेवाले निरपराध प्राणी की संकल्प पूर्वक घात नहीं करना (२) आत्म हत्या नहीं करना। (३) गर्भ हत्या नहीं करना। (४) हत्या व तोड़ फोड़ का उद्देश्य रखनेवाले दल या संस्था का सदस्य नहीं बनना और न उनके किन्हीं कार्यों में भाग लेना। (५) किसी भी व्यक्ति को अस्पृश्य नहीं मानना। (६) किसी के साथ क्रूर-व्यवहार नहीं करना। अर्थात्—(क) किसी कर्मचारी, नौकर या मजदूर से अति श्रम नहीं लेना। (ख) अपने आश्रित प्राणी के खान पान व आजीविका का कलुष भाव से विच्छेद नहीं करना। (ग) पशुओं पर अति भार नहीं लादना।

सत्य अणुव्रत के नियम

(१) क्रय विक्रय में माप तौल, संख्या, प्रकार आदि के विषय में असत्य

नहीं बोलना। (२) जान-बूझकर असत्य निर्णय नहीं देना। असत्य मामला नहीं करना और न असत्य साक्षी बनना। (४) व्यक्तिगत स्वार्थ या द्वेष वश किसी का मर्म (गुप्त बात) प्रकाश नहीं करना। (५) सौंपी या धरी (धरोहर) वस्तु के लिये ना नहीं करना। (६) जालसाजी नहीं करना। अर्थात्—(क) जाली हस्ताक्षर नहीं करना। (ख) झूठा खत या दस्तावेज नहीं लिखाना (ग) जाली सिक्का या नोट नहीं बनाना। (७) वंचनापूर्ण व्यवहार नहीं करना। अर्थात्—(क) मिथ्या प्रमाण पत्र नहीं देना। (ख) मिथ्या विज्ञापन नहीं करना। (ग) अवैध तरीका से परीक्षा में उत्तीर्ण होने की चेष्टा नहीं करना। (८) अवैध तरीकों से विद्यार्थियों के परीक्षा में उत्तीर्ण होने में सहायक नहीं बनना। स्वार्थ, लोभ या द्वेषवश भ्रमोत्पादक और मिथ्या संवाद, लेख व टिप्पणी प्रकाशित नहीं करना।

अचौर्य अणुव्रत के नियम

(१) दूसरा की वस्तु को चोर वृत्ति से नहीं लेना। (२) जान-बूझ कर चोरी की वस्तु को नहीं खरीदना और न चोर को चोरी करने में सहायता देना। (३) राज्य निषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात निर्यात नहीं करना। (४) व्यापार में अप्रामाणिकता नहीं बरतना। अर्थात्—(क) किसी चीज में मिलावट नहीं करना। (ख) नकली को असली बताकर नहीं बेचना। (ग) एक प्रकार की वस्तु दिखाकर दूसरे प्रकार की वस्तु नहीं देना। (घ) सौदे में बीच में नहीं खाना। (ङ) कूट तोल माप नहीं करना। (च) अच्छे माल को बट्टा काटने की नीयत से खराब या दागी नहीं ठहराना। (छ) व्यापारार्थ चोर बाजार नहीं करना। (५) किसी ट्रस्ट या संस्था का अधिकारी होकर उसकी धन-सम्पत्ति का अपहरण या अपव्यय नहीं करना। (६) बिना टिकिट रेल आदि से यात्रा नहीं करना।

ब्रह्मचर्य अणुव्रत के नियम

(१) वेश्या व पर स्त्री गमन नहीं करना। (२) किसी प्रकार का अप्राकृतिक मैथुन नहीं करना। (३) महीने में कम से कम २० दिन ब्रह्मचर्य का पालन]

पालन करना। (४) कम से कम १८ वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करना (कन्याओं के लिये १६ वर्ष की अवस्था तक)। ४५ वर्ष की आयु के बाद विवाह नहीं करना।

अपरिग्रह अणुव्रत के नियम

(१) अपने मर्यादित परिमाण से अधिक परिग्रह नहीं रखना। (२) घूस नहीं लेना। (३) मत (वोट) के लिये रुपया न लेना और न देना। (४) लोभवश रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय नहीं लगाना (५) सगाई-विवाह के प्रसंग में किसी प्रकार के लेने का ठहराव नहीं करना। (६) दहेज आदि का प्रदर्शन नहीं करना और न प्रदर्शन में भाग लेना।

शील और चर्या के नियम

अणुव्रती की जीवन चर्या जीवन शुद्धि की भावना के प्रतिकूल न हो इसलिये शील और चर्या के शुद्ध नियम हैं जो इस प्रकार हैं —

(१) आमिष भोजन नहीं करना। (२) मद्यपान नहीं करना। (३) भांग, गांजा, तम्बाकू, जरदा आदि का खाने पीने व सूंघने में व्यवहार नहीं करना। (४) खाने पीने की वस्तुओं की दैनिक मर्यादा करना (५) सब धर्मों के प्रति तितिक्षा के भाव रखना, भ्रान्ति नहीं फैलाना, मिथ्या आरोप नहीं लगाना। (६) ऊनवान वस्त्र के सिवाय रेशमी आदि कृमि हिंसाजन्य वस्त्र न पहनना और न ओढ़ना। (७) विशेष परिस्थिति, विदेशावास और वर्तमान वस्त्र के सिवाय स्वदेश से बाहर बने वस्त्र न पहनना और न ओढ़ना। (८) असद् आजीविका नहीं करना। अर्थात् (क) मद्य का व्यापार नहीं करना। (ख) जुआ और घुड़ दौड़ नहीं खेलना। (ग) आमिष का व्यापार नहीं करना। (घ) शस्त्रास्त्र और गोला बारूद का उद्योग धन्धा व व्यापार नहीं करना। (९) पत्नी के होते दूसरा विवाह नहीं करना। (१०) मृतक के पीछे प्रथा रूप से नहीं रोना। (११) वृहत जीवनवार नहीं करना। अर्थात्—(क) २५० से अधिक व्यक्तियों को भोजनार्थ निमंत्रित नहीं करना। (ख) दूसरे गांव बरात में १०० से अधिक व्यक्तियों को नहीं ले जाना। निमंत्रण देनेवाले

[शेष पृष्ठ ...

पत्र द्वारा एक मर्यादा का उल्लंघन हो, वहाँ भोजन नहीं करना। (१७) होली पर गन्दे पदार्थ नहीं डालना और न अश्लील व भद्दा व्यवहार करना।

आत्म-उपासना के नियम

(१) प्रतिदिन कम से कम १५ मिनट आत्म चिन्तन करना।

(२) प्रतिमास एक उपवास करना यदि यह सम्भव न हुआ तो दो एकाशन करना।

(३) पक्ष में एक बार सामूहिक प्रार्थना, आत्मालोचन और पाक्षिक भूलों व प्रगति का निरीक्षण करना।

(४) किसी के साथ अनुचित या कटु व्यवहार हो जाने पर १५ दिन की अवधि में क्षमा याचना कर लेना।

(५) प्रतिवर्ष एक अहिंसा दिवस मनाना। उस दिन—

(क) उपवास रखना।

(ख) ब्रह्मचर्य का पालन करना।

(ग) असत्य व्यवहार नहीं करना।

(घ) कटु वचन नहीं बोलना।

(ङ) मनुष्य, पशु पक्षी आदि पर प्रहार नहीं करना।

(च) मनुष्य व पशुओं पर सवारी नहीं करना।

(छ) वर्ष भर में हुई भूलों की आलोचना करना।

(ज) किसी के साथ हुए कटु व्यवहार के लिए क्षमत क्षामना करना।

अणुव्रतों के इस व्यापक प्रचार के फल स्वरूप प्राय सभी प्रकार के व्यक्ति इसमें सम्मिलित हुए हैं और नैतिक जागरण के इस महान अनुष्ठान में हाथ बटाया है। जो नैतिकता राजकीय नियमों व वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा पैदा नहीं की जा सकती, वह एक अकिंचन योगी की मानसिक निष्ठा का योग पाकर व्यक्ति व्यक्ति के हृदय परिवर्तन के साथ साथ स्वयं पैदा हो रही है।

लोकहितकारी प्रवृत्तियां

अणुव्रत ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की संख्या धीरे धीरे बढ़ रही है और यह एक शुभ लक्षण है। तूफान आता है और चला जाता है किन्तु मन्द-मन्द हवा सदा बहती रहती है। इसमें भावावेश का काम नहीं है। समझ समझ कर कुछ व्यक्ति भी यदि सत्य-जीवन स्वीकार करते हैं तो वह केवल बड़ी संख्या की अपेक्षा बहुत उत्तम है। अणुव्रत आन्दोलन का प्राय वर्ष में एक बार अधिवेशन होता है, उसमें अणुव्रती भाई बहनों को अणुव्रती-जीवन की अपनी कठिनाइयों के बारे में सोचने का अवसर भी मिलता है। प्राप्त अनुभवों के आधार पर आन्दोलन के नियम समय समय पर संशोधित किये जाते हैं तथा वार्षिक गतियों आदि पर भी विचार किया जाता है।

अणुव्रत आन्दोलन चरित्र निर्माण का आन्दोलन है। आज मानव जाति को यदि सबसे अधिक किसी वस्तु की आवश्यकता है तो चरित्र निर्माण की है, क्योंकि उसने सबसे अधिक इसी वस्तु को खोया है। संसार के अधिकांश दुःख और अशान्ति का प्रधान कारण चरित्र हीनता ही है। स्वय असत्य और अप्रामाणिकता का व्यवहार करने वाला व्यक्ति दूसरों से सचाई और प्रामाणिकता की आशा कैसे कर सकता है? जहां पारस्परिक व्यवहार दोष युक्त होता है, वहां दुःख और अशान्ति के अतिरिक्त और मिल ही क्या सकता है। दोष छूत रोग के समान बहुत शीघ्र अपने आप फैलते हैं। किन्तु गुण औषधि के समान धीरे धीरे असर करते हैं, अतः अपेक्षा इस बात की है कि संसार में दोष की अपेक्षा गुण अधिक मात्रा में रहें, सुख और शान्ति तभी स्थिर रह सकती है। अणुव्रत आन्दोलन गुणों को बढ़ावा देने का ही एक प्रयास है।

भौतिकता की चकाचौंध में पड़कर नैतिकता से दूर हट हिंसक मानव को यह आन्दोलन एक चुनौती है। आज दुनिया को नैतिक सौहार्दमय जीवन और अनैतिक शत्रुमय जीवन में से एक को चुनना है। आचार्य श्री अणुव्रत भावना द्वारा नैतिक सौहार्दमय जीवन को चुनने की ही आपको प्रेरणा देते हैं।



११ आचार्य श्री तुलसी

तेरापंथ के वर्तमान आचार्य श्री तुलसी गणी हैं। सुडौल शरीर, गौर वर्ण, भव्य ललाट और तेजस्वी आंखों वाला आपका बाह्य व्यक्तित्व जहां सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति पर अचूक असर डालता है वहां सरल व्यवहार, मृदु संभाषण, समन्वयकारिणी प्रतिभा और निर्भीक उत्तिरूप आपका आन्तरिक व्यक्तित्व भी कम असर नहीं डालता। आपको देखकर भगवान महावीर और गौतम बुद्ध का व्यक्तित्व याद आये बिना शायद ही रहे।

आपका जन्म सम्वत १८७१ के कार्तिक शुक्ला २ के दिन राजस्थानान्तर्गत लाडनूं नामक शहर में हुआ। ११ वर्ष की अवस्था में ही तीव्र वैराग्य-भावना जागृत होने के फलस्वरूप अष्टमाचार्य श्री कालूगणी के कर-कमलों द्वारा आपका दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ। दीक्षा के बाद ११ वर्ष तक आप विद्याध्ययन में संलग्न रहे। संस्कृत तथा प्राकृत के करीब २१ हजार श्लोक आपने कण्ठस्थ किये और अनेक आगमों का मननपूर्वक पारायण किया। तीव्र अध्यवसाय और सहज धर्मठता के धनी इस व्यक्ति ने २ वर्ष की अवस्था में ही अपने को इतना विचारशील और मननशील बना लिया कि अष्टमाचार्य ने अपने पीछे आचार्य पद के लिए आपको चुना।

२२ वर्ष के इस युवक को इतने बड़े श्रमण संघ का भार सौंप देना अवश्य ही आश्चर्य का विषय था, लेकिन आपने अपने साठन शील व्यक्तित्व से उस भार को इस प्रकार वहन किया कि भार सौंपना आश्चर्य नहीं, बल्कि उसको इतनी सफलता से वहन करना ही आश्चर्य बन गया।

इस समय आपकी अवस्था करीब ४० वर्ष की है। बीस वर्ष के इस शासनकाल में आपने संघ का सर्वतोमुखी जो विकास किया है वही आपके महान् नेतृत्व का परिचायक है। कर्मठता तो आपका स्वभाव बन गई है, रात दिन के २४ घण्टों में से लगभग १८ घण्टे तो आपके श्रम में ही बीतते हैं। केवल रात्रि के ६ घण्टे सोने के लिये हैं, उनमें भी कभी कभी कटौती करनेकी नौबत आ जाती है। पाद विहार शिष्यों को व्याकरण दर्शन आदि विषयों का अध्यापन, प्रवचन, आगन्तुक जिज्ञासु व्यक्तियों के साथ तत्व चर्चा, ग्रंथ-प्रणयन आदि कार्यों में सारा समय निमग्न रहता है। आश्चर्य यह है कि ज्यों ज्यों कार्याधिक्य होता है त्यों त्यों आपकी कर्मठता और बढ़ती ही जाती है, थकान आपके मुह पर शायद ही कभी देखने को मिले।

उपर्युक्त बात मैंने किसी प्रकार के भक्ति अतिरेक से नहीं लिखी है और न इसलिए कि मैं उनका एक शिष्य हूं या उनसे शिक्षा प्राप्त की है तथा उनके अधिक सन्निकट रहा हूं किन्तु ये सब बातें आपके अपूर्व व्यक्तित्व से प्रभावित होने वाले व्यक्तियों द्वारा अभिव्यक्त उद्‌गारों के आधार पर लिखी हैं। इस बात की प्रामाणिकता कोई भी व्यक्ति कुछ समय के लिये आपके निकट रहकर सहज ही में प्राप्त कर सकता है।

आप एक संघ के आचार्य होने के साथ साथ अद्भुत कवि, दार्शनिक तथा लेखक भी हैं। दर्शन तथा जैन सिद्धान्त जैसे विषयों पर आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से कुछ का नामोल्लेख पीछे किया जा चुका है।

युद्ध-त्रस्त दुनिया के मनीषियों द्वारा अनुष्ठित शान्ति प्रयत्नों में आपने अनेक बार अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण को व्यक्त करनेवाले सन्देश दिये हैं। विश्व शान्ति सम्मेलन (World peace conference) में आपके द्वारा प्रदत्त "अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश" पढ़ा गया था जिसकी तटस्थ विद्वानों पर अच्छी प्रतिक्रिया हुई थी। इस सन्देश के अन्तर्गत शान्ति के नव-सूत्रों के विषय में महात्मा गांधी ने कहा था—"क्या ही अच्छा होता इस महापुरुष के बताये हुए इन नियमों को मानकर दुनिया चलती।"

एक आध्यात्मिक संगठन के नेता होने के नाते आप अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि जनता की किसी भी सम्भावित नैतिक अस्त व्यस्तता को दूर करने के लिये सन्नद्ध रहा जाये। अधार्मिकता के वातावरण को अनुपयोगी-पहत कर धार्मिकता व नैतिकता का बीज वपन कर देना आपके विशिष्ट उद्देश्यों में से एक है। भविष्यद्रष्टा की तरह आप भी आन्तरिक आँखों से अनागत की काली चादर के पार देखते हैं और उसके तल में छिपे रहस्यों को जान लेते हैं।

आप यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य में स्वभावतः ही सत् और असत दोनों प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। जिन वृत्तियों को उभरने का अधिक अवकाश मिलता है वे ही मनुष्य के भावी जीवन का घटक होती हैं। अब क्यों न पहले से ही मनुष्य की सद् वृत्तियों का उभार आये, ताकि असद् वृत्तियों को ऊपर आने का अवसर ही न मिले और वे अपने आप अपनी विरोधी वृत्तियों के रूप में बदल जाय। इसी उदात्त भावना को कार्य रूप देने के विविध प्रयत्नों का व्यवस्थित रूप ही अणुव्रत आन्दोलन है जो कि जनता की वर्तमान अनैतिक भावना के विरुद्ध एक मोर्चा है और नैतिकता के पुनर्जागरण की ओर एक शुभ पदन्यास है।

आपकी धारणा है कि कोई भी सकट बाहर से नहीं आता। वह तो अपने में ही पैदा किया जाता है, नीति विशुद्ध रहने पर भयानक दिखलाई देने वाला सकट भी तट पर आकर समाप्त हो जाने वाली समुद्र की भयावह लहर की तरह अपने आप में कुछ नहीं रह पाता। दुर्नीति ही सारे कष्टों की जननी है, जब तक जनता इस तत्त्व को हृदयगम कर अपने जीवन में एक रस नहीं कर लेती तब तक शान्ति और सुख की कल्पना मृग मरीचिका से बढ़कर कुछ नहीं मानी जा सकती।

आप एक समन्वयमूलक विचारधारा का पोषण करने वाले आचार्य हैं। विरोधी से विरोधी व्यक्ति को भी आप उतनी ही शान्ति और धैर्य से सुनते हैं जितना कि किसी अनुकूल व्यक्ति की बात को। आपके मन्तव्यानुसार व्यक्ति की स्थितियाँ और शक्तियाँ पृथक् पृथक् होती हैं। अतः विभिन्न

व्यक्तियों द्वारा विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क शक्तियों के उपयोग से सोचा गई बातों में मतभेद होना कोई असम्भव बात नहीं है। पर उससे मन भेद होने की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। मत-भेद न हो—यह विचार-कुण्ठता का सूचक है और मन भेद न हो—यह गांभीर्य का। मतभेद होते हुए भी मन भेद न हो—ऐसी स्थिति अपेक्षित है। विचार-स्वातन्त्र्य में मत भेद को रोका नहीं जा सकता किन्तु मन भेद होने की स्थिति पर रोक लगाई जा सकती है। इसका मार्ग समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही हो सकता है। सब मत या सम्प्रदाय एक बन जायें—यह कल्पना दुरूह है। सम्भाव्य कल्पना यह है कि सब सम्प्रदाय परस्पर मित्र बन जायें। कोई किसी के प्रति विरोध, आक्षेप या घृणा की भावना न फैलाये। इस कल्पना को साकार रूप देने के लिये आपने विश्व के विभिन्न धर्मावलम्बियों के समक्ष समन्वयमूलक एक पंच सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। वे पांच सूत्र ये हैं।

१—मण्डनात्मक नीति बरती जाय। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाय। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जांय।

२—दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाय।

३—दूसरे सम्प्रदाय या उसके साधु-संघ के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाय।

४—सम्प्रदाय परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि के रूप में अवांछनीय व्यवहार न किया जाय।

५—धर्म के मौलिक तथ्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाय।

आध्यात्मिकता, नैतिकता और समन्वयकारिता के संदेशवाहक के रूप इस समय आप हजारों मीलों की पैदल यात्रा करते हुए अपनी ज्ञान-पूर्ण वाणी से जनता को उद्बोध देते हुए घूम रहे हैं। अपने विद्वान् शिष्यों को भी आपने दूर-दूर तक इसी उद्देश्य से भेजा है। भारतवर्ष की ऋषिभूमि आज भी पुरातन काल की तरह इस महर्षि की चरण धूलि से पावन बन रही है।